Journal of Advances and Scholarly Researches in Allied Education
Vol. 16, Issue No. 6, May-2019, ISSN 2230-7540

प्रेमचंद 'आदर्श' और 'यथार्थ'

Dr. Asha Tiwari Ojha*

Associate Professor, Department of Hindi, Sunderwati Mahila College, Tilka Manjhi Bhagalpur University, Bihar

सार - 'सोजेवतन' 1909 में प्रकाशित हुआ था। प्रकाशन के साथ ही यह विवादों में आ गया। अंग्रेजी -राज ने 'सोजेवतन' पर प्रतिबंध लगा दिया और उनकी प्रतियों को जब्त कर जला दिया। इस प्रतिबंध और जलाने की घटना ने प्रेमचंद को और ज्यादा लोकप्रिय बनाया। प्रेमचन्द जनता के और नजदीक गए। नजदीक जाने के इस क्रम में प्रेमचन्द साहित्य की सामाजिक भूमिका और स्वाधीनता आंदोलन उसके गहरे जुड़ाव को समझ रहे थे। इसी समझ ने प्रेमचन्द के भीतर स्वाधीनता के भाव भरे और ''अपनी स्वाधीनता का हामी लेखक, समाज के प्रति उत्तरदायित्व को भी खूब पहचानता है, क्योंकि वह जानता है कि समाज के संघर्ष से ही उसे यह स्वाधीनता मिली है और वह साधारण जनता की स्वाधीनता का एक अंग है।''[1] ''इसीलिए'' ''स्वाधीनता का आन्दोलन जितना ही फैलता गया और जनता के दिमाग में इसकी जड़ें जितनी ही गहरी धँसती गईं, प्रेमचन्द की कला उतनी ही जीवन्त और अर्थवान होती गई। उनके अफसाने और उपन्यास एक आईना है, जिसमें आप हिन्दूस्तान की कौमी तवारीख़ के सबसे यादगार दौर के मुख़्तलिफ पहलुओं को, उनकी तमाम अच्छाइयों और कमियों के साथ, प्रतिबिम्बित होता हुआ देख सकते है।''[2]

----------X----------

अच्छाइयों और कमियों के साथ विवाद भी लगातार बना रहा। विवादों के आरोपों की शुरूआत 'सोजेवतन' के साथ ही शुरू हो गया था किन्तु 'प्रेमाश्रम' तक आते-आते इसका स्वरूप व्यापक बन गया। 'प्रेमाश्रम'के आने पर इसकी प्रशंसा में जुलाई 1922 के प्रभा में श्री रघुपति सहाय एक 'समालोचना' लिखते हैं और कहते है कि ''नगर निवासियों के हाथों किसानों की क्या गति हो रही है, जमीदारी प्रथा ने किसानों की जिंदगी को पुलिस, जमीदार और अदालत के शिकंजो में किस तरह जकड़ दिया है, जमींदारी प्रथा किस तरह किसानों का खून चूस रही है,...देश में कैसी शोषण की चिनगारियाँ उड़ रही है, कैसी आग लगी हुई है, इस अतीव महत्वपूर्ण, अति जटिल और अत्यन्त द्वदायाकर्षक प्रश्न को लेखक ने अपने अद्वितीय ढंग से पेश किया है।''[3] ''सहाय जी की यह आलोचना तत्कालीन सहित्यिक -आलोचना का एक बेहतरीन नमूना है। अपने परिवेश और देशगत समस्याओं के साथ रचना के स्वरूप और विषय को रखते हुए सहायजी प्रेमाश्रम' का मूल्यांकन करते हैं। सहायजी के बाद प्रभा के ही फरवरी 1923 के अंक में श्री हेमचद्र जोशी 'प्रेमाश्रम' पर अपनी प्रतिक्रिया में इस उपन्यास की कमजोरियों की ओर इशारा करते हुए कहते हैं कि ''प्रेमाश्रम'' में देश कल्याण की शिक्षा अथवा नीति के उपदेशों को समझाने की चेष्टा इस प्रकार से की गई है कि सत्य, शिव तथा सुंदर का पुस्तक में पता ही नहीं मिलता। .... प्रेमाश्रम में जो समस्याएँ सामने रखी गई हैं वे ही सब कुछ है। उन्हें निकाल दीजिए तो इसमें कुछ भी बाकी न रहेगा।... तुर्गनेव, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, रोम्यां रोला आदि लेखकों ने अपने लेखों में अत्यंत जटिल तथा दुर्बोध मानवी भावों का जो अपूर्व विश्लेषण किया है, रहस्यमय मानव जीवन की जिस पूर्ण अभिज्ञता का परिचय दिया है, जीवन की प्रतिदिन की घटनाओं के वर्णन की जो अलौकिक शक्ति दिखाई है वह प्रेमचंद जी की रचना में कहाँ...? प्रेमाश्रम में मानवी भावों के विश्लेषण की चेष्टा अवश्य की गई है, पर वह विश्लेषण हल्के ढंग का, कृत्रिम और असत्य है।''[4] प्रेमचन्द के 'प्रेमाश्रम' के ऊपर जोशी जी की आलोचना में कई आरोप सीधे तौर पर लगाए गए, जिसमें गहरी संवेदनात्मक अनुपस्थिति और विश्लेषण की कृत्रिमता का आरोप भी था। जोशी जी के इस आलोचना का जवाब देते हुए श्री जनार्दन प्रसाद 'माधुरी' के जून 1923 के अंक में लिखते हैं कि ''अगर वास्तविक प्रशंसा करने पर उन लोगों पर मित्रता का आरोप लगाया जा सकता है तो इन यथार्थ और विद्वेषपूर्ण बातों से भरे हुए लेखों के लिखने के कारण जोशी जी पर शत्रुता साधने का आरोप क्या नहीं लगाया जा सकता है?''[5] और ''अंततः आपको मानना ही पड़ेगा कि महान सत्य एक मात्र नैतिक उपदेश तथा लोकहित की शिक्षा के सहारे ही प्रकट किया जा सकेगा।''[6] जनार्दन प्रसाद झा ने इसी को विस्तार से अपनी पुस्तक 'प्रेमचन्द की उपन्यास कला' में लिखा है। नीति शिक्षा और उसके कलात्मक मूल्य का जिक्र करते हुए प्रेमचंद की रचना के संदर्भ में वे कहते हैं ''इनके साहित्य में नीति -शिक्षा

www.ignited.in

की जो बाते आती हैं वे बाहर की नहीं होती। सच तो यह है कि प्रभावशाली नीति -शिक्षा और जीवन का संबंध इतना स्वाभाविक और सुदृढ़ है कि साहित्य के लिए नीति बाहर की वस्तु हो ही नहीं सकती। जब तक कला का उद्देश्य मानवीय भावों और विचारों को परिष्कृत करना तथा उन्हें समुन्नत बनाना रहेगा, तब तक वह नीति -शिक्षा की उपेक्षा करेगी कैसे? प्रेमचन्द की कला का यही प्रधान उद्देश्य है। इसलिए, इनके उपन्यासों में उच्चादर्श तथा नीति -शिक्षा का भी एक कलात्मक मूल्य है और सदैव बना रहेगा।"[7]

जनार्दन प्रसाद झा ने व्यवस्थित रूप से पहली बार प्रेमचंद के साहित्य और कला का विवेचन किया और उनके महत्व को सामने लाने का कार्य किया। जनार्दन प्रसाद जी के बाद कई महत्वपूर्ण आलोचनाएँ प्रेमचन्द के ऊपर आई।

प्रेमचन्द: एक साहित्यिक विवेचन पुस्तक में नन्ददुलारे वाजपेयी 'हिन्दी उपन्यास- परम्परा और प्रेमचन्द' पर बात करते हुए कहते हैं "प्रेमचन्द के उपन्यासों में सबसे प्रमुख विशेषता है उनकी आदर्श-वादित। चरित्रों और उनकी प्रवृत्तियों का निर्देश करने में वे आदर्शोन्मुखी है घटनावली का निमार्ण और उपसंहार करने में आदर्श का सदैव ध्यान रखते है।[8] इसी क्रम में वाजपेयी जी 'सेवासदन' और 'प्रेमाश्रक' का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं और कहते है कि "सेवासदन" में सुमन के चरित्र का सुधार कर प्रेमचन्द एक आश्रम की प्रतिष्ठा करते और उसके जीवन का उज्ज्वल अध्याय आरम्भ करते हैं। 'प्रेमाश्रम' 'में' वह वस्तु और भी स्थूल बनकर आई है। प्रेमाश्रम में आदर्श ग्राम की सृष्टि उपन्यास के उत्तरार्द्ध में की गई है। यह प्रेमचन्द का ध्येयवाद या उद्देश्यवाद है।..... आदर्श प्रधान पात्रों और परिस्थितियों का निर्माण और चित्रण तो कला के लिए वर्जित नहीं है, परन्तु उद्देश्य की अत्यधिक प्रमुखता प्रेमचन्द को उपदेशात्मक लेखक की श्रेणी में पहुँचा देती है।[9] वाजपेयी जी उपन्यास की परम्परा का निदर्शन करते हुए प्रेमाश्रम तक पहुँचते हैं और 'आदर्शवाद', 'उपदेश', 'उद्देश्य' एवम् कृत्रिमता तक जाकर उनका विश्लेषण खत्म होने लगता है। वाजपेयी जी प्रेमचंद के यहां 'उपदेशात्मकता का आरोप तो लगाते हैं, लेकिन उपदेशों की व्याख्या सरलीकृत रूप में करते हैं।

रामविलास शर्मा प्रेमचंद के 'उपदेश' की बहुकेन्द्रीत विशिष्टताओं को रेखांकित करते हुए कहते हैं कि "प्रेमचंद साहित्यकार की तटस्थता के हामी न थे। वह यह उपदेश देते थे कि अगर जन-साधरण के आंदोलन और संघर्षों को लेकर साहित्य न रचा जाएगा, तो वह अमर न होगा। उनका सिद्वांत था -साहित्यकार का कर्तव्य है कि वह जनता की सेवा करने के लिए साहित्य रचे। हिन्दुस्तान की बहुसंख्यक जनता किसानी करती है। इस जनता को छोड़कर औरों के बारे में लिखने से उपन्यासकार अपने देश और युग का प्रतिनिधि कैसे होता, इसीलिए उन्होंने किसानों के बारे में लिखा।[10] "इसीलिए" 'प्रेमाश्रम' में वे उन किसानों की जिदंगी की तस्वीर खींचना चाहते थे जिन्हें साहित्य के लक्षण -ग्रन्थो में जगह नहीं मिली थी। वे उस अत्याचार और अन्याय की कहानी सुनाना चाहते थे जिसे उपक्रम, उपसंहार, उपयोजन और उत्पत्ति की चर्चा करने वाले सज्जन अक्सर भूल जाया करते थे।[11] तत्कालीन राजनीतिक-सामाजिक घटनाओं और उसके प्रभाव की गहरी संबद्धता प्रेमाश्रम से है। भारतीय समाज में व्याप्त गहरे असंतोष की गूँज 'प्रेमाश्रम' के भीतर मौजूद है। "60 वर्षों से ब्रिटिश राज की छत्र-छाया में सामंत वर्ग के शोषण- उत्पीड़न से, विश्वयुद्ध की ज्यादतियों, कर्जों और युद्ध खत्म होने के तुरन्त बाद आकाश छूती कीमतों से पूर्वी उत्तर प्रदेश के खेतिहर-समाज में जो परिस्थितियाँ पैदा हो गई थीं, उन पर किसी भी राष्ट्रीय नेता के मुकाबले, पहली प्रतिक्रिया प्रेमचंद ने की। यह प्रतिक्रिया उन्होंने 'प्रेमाश्रम' रचकर की। 1918-19 में पूर्वी उत्तर प्रदेश की जिन परिस्थितियों के जवाब में 'प्रेमाश्रम' की रचना हुई, उन परिस्थितियों ने 'प्रेमाश्रम' की रचना पूरी होने के बाद फूटने वाले दो शक्तिशाली आंदोलनों- किसान आंदोलन और असहयोग आंदोलन -में भारी हाथ बँटाया। प्रेमाश्रम न सिर्फ अपने समय के यथार्थ को चित्रित करता है बल्कि उस यथार्थ के भावी विकास की दिशा का भी संकेत करता है। यह एक ही साथ 'वास्तविक चेतना' और 'संभावित चेतना' दोनों का उपन्यास था।"[12]

कायाकल्प 1924 प्रेमाश्रम के बाद प्रेमचंद का दूसरा उपन्यास आया, उसके बाद 'रंगभूमि 1928 आया। रंगभूमि के साथ भी विवाद-आरोप का क्रम चला। रंगभूमि पर जो आरोप या विवाद थे, मौलिकता और नकल के रूप में थे। इस आरोप के केन्द्र में श्री अवध उपाध्याय और रामकृष्ण शिलीमुख थे। श्री अवध उपाध्याय रंगभूमि को 'थैकरे' के 'वैनिटी पेयर' की नकल कह रहे प्रेमाश्रम को थे तो शिलीमुख जी टालस्टाय की 'रिजेक्शन' की नकल। इस तरह के आरोपों का जबाव स्वयं प्रेमचंद देते हैं। 1924 के 'समालोचक' के अंक में प्रेमचंद 'प्रेमचंद की प्रेमलीला' शीर्षक लेख में स्पष्ट करते हैं कि जिसने वैनिटीफेयर और रंगभूमि दोनों की सैर की है, वह कभी ऐसी बेतुकी बातें लिख ही नहीं सकता। वैनिटी फेयर आसमान पर हो, रंगभूमि जमीन पर, है वह रंगभूमि।.....समालोचक के भाग दो संख्या तीन में 'गुलाब' महाशय ने रंगभूमि की चर्चा करते हुए लिखा है कि उस पर वैनिटी फेयर का कुछ प्रभाव है। हो सकता है। लेकिन मैंने वैनिटी फेयर सन् 1903 में पढ़ा था और रंगभूमि सन् 1924

www.ignited.in

में लिखी, इससे वैनिटी फेयर के भावों का इतने दिनों मन में संचित रहना मुश्किल है, विशेषकर मेरे लिए क्योंकि मेरी मेमोरी अच्छी नहीं।'[13]

नकल या विवाद के बीच "रंगभूमि" पर अन्य जो आरोप लगाए जा रहे थे, उसमें 'गाँधीवाद' का प्रभाव हुआ है। मन्मनाथ गुप्त 'रंगभूमि' का उल्लेख करते हुए 'सूरदास' नामक पात्र को प्रतिकृति मान बैठते हैं। ".....सूरदास की सृष्टि तो मानों गाँधी जी के नमूने पर हुई है। यह पुस्तक गाँधीवाद के अच्छे तथा अन्य पहलुओं के चित्रणों के कारण अमर रहेगी।..... किसी राजनीतिक मतवाद की सफलता या विफलता को हम केवल दयाभावमूलक श्रद्धा या गौरव की भावना से कैसे नाम सकते हैं? हम उसकी सफलता को उसके द्वारा प्राप्त राजनीतिक सफलता से ही नाप सकते हैं।.....यदि हम आत्म-प्रवंचना न करें, और अपनी दृष्टि को 'रंगभूमि' की कथा तक ही वास्तविकता के अन्दर सीमित रखें, और कल्पना के पर लगाकर उड़ान न भरने लगें तो हमें आसानी से ज्ञात हो जाएगा कि सूरदास की हार पूँजीवाद के मुकाबले में सामन्तवाद की अर्थात् एक अधिकतर प्रतिक्रियावादी पद्धति के मुकाबले में कम प्रतिक्रियावादी पद्धति की विजय है।"[14] गुप्तजी जिस आसानी से 'रंगभूमि' का मूल्यांकन कर एक आसान निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं। 'रंगभूमि' का संघर्ष उतना आसान है नहीं। 'रंगभूमि' सन् '20 और '30 के आंदोलनों के बीच हिंद-प्रदेश की रंगभूमि हैं' और 'रंगभूमि का संबंध ठेठ हिंदुस्तानी जनता से है। उसे किसी विदेशी कृति की नकल या उससे अनुप्राणित समझना भ्रम है।"[15] रंगभूमि के नायक का पराजय न तो औद्योगिकीकरण की जीत है और न ही सामंतवाद के ऊपर पूँजीवाद के विजय का रूप।[16] 'रंगभूमि' में "औद्योगिकीकरण की ऐतिहासिक गति के सम्मुख प्राचीन ग्रामीण व्यवस्था का पूर्वाग्रह पराजित होता है। किन्तु 'रंगभमि' सामन्तवाद से पूँजीवाद में संक्रमण की कथा नहीं, बल्कि औपनिवेशिक दमन की त्रासदी है, जिसमें पाँच बीघे जमीन के मालिक सूरदास का हीरोइक विरोध अपने पूरे गौरव के साथ प्रकट होता है। 'रंगभूमि' भारतीयता की ऐसी तेजस्वी प्रतिमा प्रस्तुत करता है जिसमें शारीरिक दुर्बलता के बीच भी अलौकिक बल है, परहित के लिए आत्मत्याग की भावना है, निष्काम संघर्ष की नैतिकता है और है भारतीय किसान की आश्चर्यजनक दृढ़ता।"[17]

'प्रेमाश्रम' से लगायत 'रंगभूमि' तक के आरोप-विवाद के बीच प्रेमचंद अपनी रचना-प्रक्रिया में आगे की ओर जा रहे थे। आगे की ओर जाने का यहाँ मतलब अपने शुरूआती लेखन कला के विकास और विस्तार से है। हालांकि इस प्रक्रिया में प्रेमचंद अदालती मुकदमों के दौर से भी गुजरे, जब उनकी कहानी 'मोटेराम शास्त्री' को अपनी कहानी मान लखनऊ के वैद्य शालिग्राम शास्त्री ने माधुरी के संपादक और प्रेमचंद के ऊपर लखनऊ के सिटी मजिस्ट्रेट के यहाँ मानहानि का मुकदमा दायर करवा दी। मुकदमेबाजी की प्रक्रिया से प्रेमचंद बाहर तो आ गए, पर 'ब्राह्मणवाद' विरोध का और घृणा के प्रचारक लेखक के रूप में साहित्यिक मुकदमेंबाजी (आरोपी) का सामना करना पड़ गया। श्री शिलीमुख जी अपने लेख 'प्रेमचंद की कला' में कहते हैं कि "ब्राह्मणों के सुधार का प्रेमचंद जी ने ऐसा ठीका लिया है कि एक सेवासदन को छोड़कर सर्वत्र ही ब्राह्मण निंदनीय और उपहास्य ठहराए गए हैं और उनके जूते लगवाए गए हैं।"18 प्रेमचंद के ऊपर जिस तरह के आरोप लगाए जा रहे थे, उसका जबाव प्रेमचंद 'जीवन और साहित्य में घृणा का स्थान', 'साहित्य और कला में घृणा की उपयोगिता' नामक आलेख में देते हैं। ब्राह्मणवाद के आरोप का जबाव देते हुए वे कहते हैं कि "इन पंक्तियों के लेखक ही के विषय में एक कृपालु आलोचक ने यह आक्षेप किया है कि उसने अपनी रचनाओं में ब्राह्मणों के प्रति घृणा का प्रचार किया है। अव्वल तो उसे किसी ब्राह्मण के हाथों कोई कष्ट नहीं पहुँचा और मान लो किसी ब्राह्मण ने उस पर डिग्री करके उसका घर नीलाम करा लिया हो, या उसे सरे बाजार गाली दे दी हो तो इसलिए वह समस्त ब्राह्मण-समुदाय का दुश्मन क्यों हो जाएगा।".....इसी आलेख में ब्राह्मणवाद के ढाँचे और उसके विरोध को स्पष्ट करते हुए कहते हैं "केवल पंडित या पुजारी ही ऐसा शब्द है, जिससे दुर्भाग्यवश ब्राह्मण का बोध हो जाता है और यह कहना बड़ी दूर की कौड़ी लाना है कि जो इस पाखंडाचार के प्रति घृणा फैलाता है, वह ब्राह्मण जाति का द्रोही है।.....लेखक की दृष्टि में ब्राह्मण कोई समुदाय नहीं, एक महान पद है, जिस पर आदमी बहुत त्याग, सेवा और सदाचरण से पहुँचता है। हर एक टके-पंथी पुजारी को ब्राह्मण कहकर मैं इस पद का अपमान नहीं कर सकता। इस विकृत धर्मोपजीवी आचरण के हाथों हमारा सामाजिक अहित ही नहीं, कितना राष्ट्रीय अहित हो रहा है, यह वर्णाश्रम स्वराज्य-संघ के हथकंडों से जाहिर है।"....बस, इस विषय में कुछ और लिखने की जरूरत मैं नहीं समझता। मैंने अपनी पोजीशन बतला दी, अगर इस पर भी कोई सज्जन मुझे ब्राह्मणद्रोही कहे जाए, तो मुझे परवाह नहीं है, मैं उसे द्वेष और दिल का गुबार समझ लूँगा।"

आरोपों के सिलसिले में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आधुनिक काल में तृतीय उत्थान के तहत 'गद्य साहित्य की वर्तमान गति' पर लिखते हुए कहते हैं कि "सामाजिक और राजनीतिक सुधारों के जो आंदोलन देश में चल रहे हैं उनका आभास बहुत-से-उपन्यासों में मिलता है। प्रवीण उपन्यासकार उनका समावेश और बहुत-सी बातों के बीच कौशल के साथ

करते हैं। प्रेमचंद जी के उपन्यासों और कहानियों में भी ऐसे आंदोलन का आभास प्रायः मिलता है। पर उनमें भी जहाँ राजनीतिक उद्धार या समाज सुधार का लक्ष्य बहुत स्पष्ट हो गया है वहाँ उपन्यासकार का रूख छिप गया है और प्रचारक (प्रोपैगेंडिस्ट) का रूप ऊपर आ गया है।' प्रेमचंद 'साहित्य का आधार' में कहते हैं कि "साहित्य और प्रोपेगेंडा में क्या अन्तर है, इसे यहाँ प्रकट कर देना जरूरी मालूम होता है। प्रोपेगेंडा में अगर आत्म-विज्ञापन न भी हो तो एक विशेष उद्देश्य को पूरा करने की वह उत्सुकता होती है जो साधनों की परवाह नहीं करती। साहित्य शीतल, मन्द समीर है, जो सभी को शीतल और आनंदित करती है। प्रौपेगेंडा आँधी है, जो आँखों में धूल झोंकती है, हरे-भरे वृक्षों को उखार फेंकती है और झोपड़े तथा महल दोनों को हिला देती है। वह रस-विहीन होने के कारण आनन्द की वस्तु नहीं।"[19] प्रोपेगेंडा और साहित्य के बीच मूलभूत अंतर को समझाते हुए वे कहते हैं "हमारे लिए तो उसकी परीक्षा की एक ही कसौटी है, वह हमें सत्य और सुन्दर के समीप ले जाता है या नहीं? यदि ले जाता है तो वह साहित्य, नहीं ले जाता तो प्रोपेगेंडा या उससे भी निकृष्ट है।"[20]

आचार्य शुक्ल राजनीतिक और सामाजिक आंदोलनों के आभास के चित्रण के तरीके (रूप) की आलोचना करते हुए इस बात की ओर इशारा करते हैं कि रचना में उन आंदोलनों का लक्ष्य बहुत स्पष्ट न हो। कोई भी रचना यदि 'रचना' की जगह प्रचार सामाग्री बन जाए तो वह अपने विद्यागत स्वरूप को खो देती है। लेकिन "साहित्यकार अपनी कला को किसी उद्देश्य के अधीन नहीं करना चाहता। उसके विचारों में कला मनोभावों के व्यक्तीकरण का नाम हैं, चाहे उन भावों से व्यक्ति या समाज पर कैसा ही असर क्यों न पड़े।"[21] और "यदि साहित्यकार ने अमीरों के याचक बनने को जीवन का सहारा बना लिया हो, और आन्दोलनों, हलचलों और क्रांतियों से बेखबर हो, जो समाज में हो रही हैं, अपनी ही दुनिया बनाकर उसमें रोता और हँसता हो, तो इस दुनिया में उसके लिए जगह न होने में कोई अन्याय नहीं है।"[22] प्रेमचन्द रचनाकार को समाज से निरपेक्ष नहीं मानते थे। उनका मानना था कि समाज से जुड़कर ही कोई भी रचनाकार बेहतर कृति या रचना की निर्मिती कर सकता है। इस प्रक्रिया में वह निजी लाभ के पाने की स्थिति से ऊपर उठा रहता है। क्योंकि "समाज से निजी लाभ उठाना ऐसा काम है, जिसे कोई साहित्यकार कभी पसंद न करेगा। उस मानसिक पूँजीपति का कर्तव्य है कि वह समाज के लाभ को अपने निज के लाभ से अधिक ध्यान देने योग्य समझे-अपनी विधा और योग्यता से समाज को अधिक लाभ पहुँचाने की कोशिश करे।"[23]

इसी कारण से प्रेमचन्द के उपन्यासों एवम् कहानियों के पात्र हमारे आस- पास और बेहद करीब के होते हैं, एवम् जो लगातार श्रम की प्रक्रिया से जुड़ा होता है। अर्थात् उसकी प्रधानता का पक्ष 'कर्म' का होता है। प्रेमचन्द के विचार इस मामले में स्पष्ट थे। उनका मानना था कि "अभी तक हमने साहित्य का जो आदर्श अपने सामने रखा था, उसके लिए कर्म की आवश्यकता न थी। कर्माभाव ही उसका गुण था।"[24] इसलिए प्रेमचन्द के उपन्यासों के पात्र सामाजिक जीवन में रहते हुए संघर्षरत हैं। प्रेमाश्रम में किसान-जमींदार का संघर्ष हो, गोदान का किसान-महाजन का संघर्ष, रंगभूमि में पूँजीपतियों से लड़ता हुआ सूरदास हो या फिर 'कफन' कहानी का 'धीसू-माधव' जो जिंदा रहने के लिए 'एक पेट' भोजन के लिए संघर्ष करता है। प्रेमचंद कहीं भी अपने पात्र का नियति या भाग्य के भरोसे नहीं छोड़ते, वो जहाँ भी है कर्मरत है। बावजूद प्रेमचंद के लेखन और उसके पात्रों पर 'आदर्शवाद और यथार्थवाद' को लेकर नन्ददुलारे वाजपेयी का कहना था कि "वास्तव में प्रेमचंद अपने विचार और लेखन में आदर्शवादी हैं। आपका चरित्र निर्माण और मनोवैज्ञानिक चित्रण आदर्शवादी है। आदर्शवादी चित्रण से तात्पर्य है मानव की सद्वृत्तियों पर विश्वास रखकर साहित्य निर्माण करना। .....कथोपकथन, भाषा की सामान्यता या पात्रानुरूपता, पात्रों की विनोदात्मक बातचीत आदि शैली संबंधी विशेषताएँ यथार्थ को छूती हुई परिलक्षित होती हैं। परन्तु केवल भाषा या शैली संबंधी विशेषताओं को लेकर किसी लेखक को यथार्थवादी नहीं कहा जा सकता। उनके जीवन दर्शन, चरित्र-चित्रण और कला की मुख्य प्रेरणा से ही उसकी परीक्षा होती है। इस दृष्टि से प्रेमचंद यथार्थवादी नहीं हैं। उन्हें यथार्थोन्मुख आदर्शवादी कहना भी अस्पष्टता को ही बढ़ाना है।"[25]

प्रेमचन्द की रचनाओं में 'आदर्शवाद' और 'यथार्थोन्मुख आदर्शवाद' की खोज ही बेईमानी है। प्रेमचंद की रचनाओं में जो कुछ है, वे सब कुछ सामाजिक परिवर्तनों की गहरी प्रक्रिया से होकर गुजरता है। इसलिए उनके चरित्र सामान्य होते हुए भी ऊँचे और महान् दिखते हैं। "प्रेमचन्द का आदर्श समाज वह था जहाँ इंसान शोषण, दमन और लूट-खसोट, समाजी और वर्गीय उत्पीड़न और मजहबी भेदभाव से मुक्त होकर एक ऐसी जिन्दगी गुजारे जो इंसानी दोस्ती और इंसान के दरमियान मुहब्बत भरे रिश्तों की खुशबू से भरा हो।"[26] 'शोषण, दमन और वर्गीय उत्पीड़न के साथ-साथ प्रत्येक समय और समाज का अपना जीवन और अपनी कुछ मान्यताएँ होती हैं और उसी के अनुसार उसके साहित्यक मानदण्ड भी होते हैं। इसलिए प्रत्येक समय के यथार्थ और यथार्थ-बोध के रूप भी अलग होते हैं। 'प्रेमचंद के यथार्थवाद

www.ignited.in

के कुछ आयाम' लेख में एंगेल्स के हवाले से चंद्रवली जी यथार्थ और साहित्य के संबंध को दिखलाते हुए प्रेमचंद की रचनाओं में साहित्य और यथार्थ के अंतःसंबंध का उद्घाटन करते हैं। वे कहते हैं कि ''यथार्थ की व्याख्या करते हुए एंगेल्स ने लिखा है कि प्रारूपिक या सामान्य चरित्रों की सृष्टि करके साहित्यकार यथार्थवाद की वास्तविक स्थापना कर सकता है। 'सामान्य चरित्र' का अर्थ प्रायः ठीक-ठाक नहीं समझा जाता। 'सामान्य चरित्र' एक निष्क्रिय मध्यमान या मंद औसत की ओर संकेत नहीं करता, बल्कि किसी युग के जीवन की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्तियों का बोध कराता है। प्रेमचंद की कृतियों में पाए जाने वाले चरित्र सही अर्थ में प्रारूपिक या सामान्य हैं। यद्यपि उनके चरित्र निर्धन, शोषित तथा दलित हैं तथापि भारतीय जनता के सभी उत्तम गुणों से वे संपन्न हैं। जब वे हारते हैं या उनका दुखपूर्ण अंत होता है, तब भी वे अपने शोषकों तथा दमनकत्र्ताओं की अपेक्षा ऊँचे और महान् दीखते हैं।''[27]

आदर्श और यथार्थ के स्वरूप का निर्धारण और उसकी प्रक्रिया ऐतिहासिक विकास प्रक्रिया के अंतर्गत आते हैं। इसलिए युगीन आदर्श और यथार्थ का विश्लेषण भी उसी ऐतिहासिक विकास प्रक्रिया के भीतर से संभव है। इस विश्लेषण का एक समकालीन संदर्भ भी होता है। प्रेमचंद 'आदर्श' और 'यथार्थ' का विश्लेषण करते हुए इसे सामाजिक मुक्ति के साथ-साथ स्वराज्य प्राप्ति के लक्ष्य से जोड़ते हैं, ''हमारा आदर्श सदैव से यह रहा है कि जहाँ धूर्तता और पाखण्ड और सबलों द्वारा निर्बलों पर अत्याचार देखो, उसको समाज के सामने रखो, चाहे हिन्दू हो, पंडित हो, बाबू हो, मुसलमान हो, या कोई हो। इसलिए हमारी कहानियों में आपको पदाधिकारी, महाजन, वकील और पुजारी गरीबों का खून चूसते हुए मिलेंगे, और गरीब किसान, मजदूर, अछूत और दरिद्र उनके आघात सहकर भी अपने धर्म और मनुष्यता को हाथ से न जाने देंगे, क्योंकि हमने उन्हीं में सबसे ज्यादा सच्चाई और सेवा भाव पाया है। और यह हमारा दृढ़ विश्वास हैं कि जब तक यह साम्प्रदायिकता और यह अन्धविश्वास हममें से दूर न होगा, जब तक समाज को पाखंड से मुक्त न कर लेंगे, तब तक हमारा उद्धार न होगा। हमारा स्वराज्य केवल विदेशी जुए से अपने को मुक्त करना नहीं है, बल्कि हम सामाजिक जुए से भी, इस पाखंडी जुए से भी, जो विदेशी शासन से कहीं घातक है...।''[28]

प्रेमचंद का आदर्श कोई कल्पना लोक का आदर्श नहीं था। वह हमारी ही सामाजिक जीवन के बीच से निकला था। उनका आदर्श साम्प्रदायिकता, अन्धविश्वास और शोषण से मुक्त समाज का था। इसलिए अपनी रचनाओं में आदर्श का निरूपण करते हुए भी परिणाम की निश्चितता के लिए प्रेमचंद वस्तुगत यथार्थ से कोई समझौता नहीं करते। इसलिए प्रेमचंद के ऊपर दूसरे लेखकों के प्रभाव की खोज होने लगती है। अमृत लाल नागर, प्रेमचंद के कथा साहित्य पर विचार करते हुए कहते हैं कि ''प्रेमचंद के कथा शिल्प में पुरानी किस्सागोई, और तोल्सतोय की गहरी छाप पड़ी नजर आती है।'[29] तोल्सतोय के प्रभाव को दिखलाने के लिए अमृतलाल नागर तोल्सतोय के भारतीय प्रभाव का जिक्र करते हुए उनकी ईसाइयत को हिन्दू जनमानस से जोड़ दिये। उन्होंने कहा कि ''केवल वैष्णव ही नहीं बौद्ध, जैन और सूफी प्रभाव के मानस की मिली-जुली अध्यात्मवादी शक्तियों ने तोल्सतोय की ईसाइयत से प्रेरणा पाई। जनसाधारण के लिए तोल्सतोय की धार्मिकता और विशिष्टजनों के लिए मनोवैज्ञानिक और समाजचेता कलाकार के रूप में तोल्सतोय ने अपनी गहरी छाप छोड़ी।.... तोल्सतोय की इसी ईसाई मनोज्योति ने एक सिरे पर जहाँ वैष्णव संस्कारनिष्ठ गाँधी की अंर्तआलोक को संवारा वहीं दूसरे सिरे पर गंवई-गांव के एक औसत हिन्दू परिवार के प्रेमचन्द को भी गहराई से छूआ।''[30] तोल्सतोय का प्रेमचन्द के ऊपर पड़े प्रभाव के विश्लेषण के क्रम में इतने उदार और कृपालु हो जाते हैं कि स्वयं आध्यात्मिक स्थिति में पहुँच जाते हैं। और फिर, तोल्सतोय की ईसाइयत को यहाँ के धर्म और फिर उस धर्म से प्रभावित राजनीतिक व्यक्तित्व गाँधीजी और साहित्यिक व्यक्तित्व प्रेमचन्द से जोड़ दिये। खुद ईसाई धर्म का, भारतीय धर्म पर क्या प्रभाव पड़ा, इसका मूल्यांकन नहीं हुआ, किन्तु नागर जी उससे कई कदम आगे जाकर ईसाई धर्म के 'तोल्सतोय रूप' का प्रभाव यहाँ दिखला देते हैं। दिखलाने का क्या? लेखक चाहे तो कुछ भी दिखला सकता है। जैसे नागर जी प्रेमचन्द के भीतर तोल्सतोय का प्रवेश कराकर उसे गोर्की के करीब पहुँचा देते हैं। ''विभिन्न भारतीय जनवर्गों की भावनाओं और विचारों का उद्घाटन करने में तोल्सतोय साहित्य की प्रेरणा से ही प्रभावित हुए थे।.....'गोदान' तक आते- आते प्रेमचन्द तोल्सतोय से दूर तो नहीं हुए थे पर गोर्की के अधिक नजदीक आ चुके थे।'' आलोचना के भीतर नागर जी की यह उक्ति-वैचित्र्य' वाली भाषा मध्यकालीन योगियों की रहस्य-भाषा के ज्यादा नजदीक दिखाई पड़ता है।

प्रेमचन्द उर्दू के रास्ते हिन्दी में आते हैं। और फिर, हिन्दी के कहानीकार, उपन्यासकार और विचारक के रूप में उन्होंने एक ऐसे निकष का निर्माण किया जो आने-वाली तमाम रचनाकारों के लिए आदर्श का या कहें प्रेरणा का केन्द्र -बिन्दु रहा है। निकष के इस निर्माण के क्रम में उन पर तमाम आरोप लगे। वाद-विवाद के बीच से होते हुए प्रेमचन्द की रचना-प्रक्रिया विकसित हुई है। इस विकास के क्रम में सुधारवाद, आदर्शवाद के रूप का आरोपण भी हुआ। किन्तु साहित्य को लेकर और अपने लेखन को लेकर शुरूआत से ही वो स्पष्ट थे। अपने पहले कहानी संग्रह 'सोजेवतन' की

www.ignited.in

भूमिका में वो लिखते है "हरेक कौम का इल्म -ओ -अदब अपने जमाने की सच्ची तस्वीर होता है। अब हिन्दुस्तान के कौमी खयाल ने बलोगीयता (बालिगपनु बुद्धिमत्ता) के जीने पर एक कदम और बढ़ाया है और हुब्बे-वतन के जज़्बात लोगों के दिलों में उभरने लगे हैं। क्योंकि मुमक़िन था कि इसका असर अदब पर न पड़ता ये चन्द कहानियाँ इसी असर का आगाज (प्रारम्भ) हैं और यकीन है कि जूँ-जूँ हमारे खयाल वसीह (विस्तृत) होते जाएँगें, इसी रंग के लिटरेचर को रोज- अफ्जों (प्रतिदिन बढ़ना) फ़रोग होता जाएगा। "सोजेवतन' की इस भूमिका सें प्रेमचन्द के भविष्य की दिशा को समझा जा सकता है। लोगों के जज्बात और असर का अंकन प्रेमचन्द की रचना का मूल आधार है। सोजेवतन की कहानियों से लेकर कफ़न तक में प्रेमचन्द इसका निर्वहन करते हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. शर्मा, रामविलास; माक्र्सवाद और प्रगतिशील साहित्य, पृ0-22, प्रथम संस्करण 1984, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
2. सिंह, मुरली मनोहर, अवस्थी रेखा, प्रेमचंद: विगत महत्ता और वर्तमान अर्थवत्ता (सं0), पृ0- 24, प्रथम संस्करण- 2006, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
3. प्रधान, गोपाल, छायावादयुगीन साहित्यिक वाद विवाद, पृ0- 154, प्रथम संस्करण 2002, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली
4. वही, पृ0- 155
5. वही, पृ0- 155
6 वही, पृ0- 155
7 सिंह, मुरली मनोहर, अवस्थी रेखा, प्रेमचंद: विगत महत्ता और वर्तमान अर्थवत्ता (सं0) पृ0- 107, प्रथम संस्करण- 2006, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
8 वाजपेयी, नन्ददुलारे, प्रेमचन्द: एक साहित्यिक विवेचन, पृ0- 17, संस्करण- 2003, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
9 वही, पृ0- 17
10 शर्मा, रामविलास, प्रेमचंद और उनका युग, पृ0-43, छठी आवृत्ति-2011, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
11. वही, पृ0- 45
12. तलवार, वीरभारत, किसान, राष्ट्रीय आन्दोलन और प्रेमचन्द, पृ0- 19, द्वितीय संस्करण- 2008, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
13 प्रधान, गोपाल, छायावादयुगीन साहित्यिक वाद विवाद, पृ0- 158, प्रथम संस्करण, स्वराज, प्रकाशन, नई दिल्ली
14. गुप्त, मन्मनाथ, प्रगतिवाद और रूपरेखा, पृ0-32-33, संस्करण- 1952, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली
15. शर्मा, रामविलास, प्रेमचन्द और उनका युग, पृ0-79, छठी आवृत्ति, 2011, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
16. वही, पृ0-80
17. सिंह, नामवर, प्रेमचंद और भारतीय समाज, पृ0-69-70, संस्करण- 2010, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
18. प्रधान, गोपाल, छायावादयुगीन साहित्यिक वाद विवाद, पृ0- 164, प्रथम संस्करण 2002, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली
19. मिश्र, सत्यप्रकाश, प्रेमचंद के श्रेष्ठ निबंध (सं0), पृ0- 56, द्वितीय संस्करण 2003, ज्योति प्रकाशन, इलाहाबाद
20. शुक्ल, रामचन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ0-296, संवत् 2059, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
21. मिश्र, सत्यप्रकाश, प्रेमचंद के श्रेष्ठ निबंध (सं0), पृ0- 119, द्वितीय संस्करण, 2003, ज्योति प्रकाशन, इलाहाबाद
22. वही, पृ0- 119
23. वही, पृ0- 91
24. वही, पृ0- 95
25. वही, पृ0- 96

www.ignited.in

26. वही, पृ0- 97

27. प्रधान, गोपाल, छायावादयुगीन साहित्यिक वाद विवाद, पृ0- 176-176, प्रथम संस्करण-2002, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली

28. सिंह मुरली पृ0-171

29. सिंह, चंद्रवली, आलोचना का जनपक्ष, पृ0-102, संस्करण-2003, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

30. प्रेमचंद, प्रेमचंद के विचार (सं0), पृ0- 463, संस्करण-2010, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली

Corresponding Author

Dr. Asha Tiwari Ojha*

Associate Professor, Department of Hindi, Sunderwati Mahila College, Tilka Manjhi Bhagalpur University, Bihar